साधना और सम्यग्दर्शन

मुनि अजितकुमार 'निर्मल'

साधना का अर्थ

लक्ष्य प्राप्ति के लिए की जाने वाली प्रवृत्ति एवं प्रयास को 'साधना' कहते हैं। साधना में लक्ष्य का बड़ा महत्व है। वैसे तो हम सभी संसारी प्राणी किसी न किसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए प्रवृत्ति रत रहते हैं और इससे प्राप्त फल का उपयोग भी करते हैं। लेकिन उसके बाद पुनः नए लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अग्रसर हो जाते हैं। इसलिए इस प्रवृत्ति को साधना न कह कर अपनी नियति मान लें, तो अधिक युक्तिसंगत होगा। क्षणिक फलों की प्राप्ति के लिए किये जाने वाले प्रयासों को यदि साधना का रूप देते हैं या उसे साधना कहते हैं तो यह हमारी क्षुद्र बुद्धि का ही प्रमाण माना जाएगा। क्योंकि यह जीवन सांसारिक योगचक्र में उलझे रहने के लिए नहीं हुआ है। वर्तमान में हम जो कुछ हैं और जैसे हैं वैसा रहना ही हमारा उद्देश्य नहीं है। हमारे जीवन का लक्ष्य तो यह है कि हम अणु से महान बनें, वामन से विराट बनें और ससीम से असीम बनें, बंधन से मुक्त हों। इससे बढ़ कर और कोई दूसरा लक्ष्य नहीं हो सकता है। प्रत्येक जीवन की यही आकांक्षा है। इसलिये साधना वही कहलाएगी जिसका लक्ष्य अन्यतम हो। अर्थात् अन्यतम लक्ष्य प्राप्ति के लिए की जाने वाली प्रवृत्ति को साधना कहते हैं।

लक्ष्य प्राप्ति का अधिकारी

अन्यतम लक्ष्य प्राप्त करने का अधिकारी कौन होता है? क्योंकि हमारी वार्तमानिक स्थिति संयोगज है। हम चेतन जीव आत्मा होकर भी शरीर इन्द्रियों आदि के साथ जुड़े हुए हैं। यह शरीर भौतिक है। हम भौतिक शरीर को हम कितना भी शक्तिमान मानें, लम्बा चौड़ा समझ लें। लेकिन शरीर की सत्ता तभी तक है जब तक इसमें प्राणशक्ति का संचार है। उदयगति अपनी धुरी पर घूमती है। प्राणशक्ति एवं हृदयगति का खेल भी तभी तक है जब तक शरीर में चैतन्य आत्मा शिवशंकर विराजमान है। लेकिन चैतन्य शिवशंकर के निकल जाने पर तो यह शरीर शव और कंकर मात्र ही रह जाता है। कथन का फलितार्थ यह हुवा है कि जीवन में इस शरीर का नहीं, आत्मा का महत्व है आत्मा ही इस सृष्टि का सिरमोर तत्व है। विश्व की प्रत्येक रमणीयता का वही सूत्रधार है। इसीलिए आत्मा के द्वारा ही अन्यतम लक्ष्य प्राप्त हो सकता है।

विकट प्रश्न

आत्मा के द्वारा अन्यतम लक्ष्य प्राप्तव्य होने पर भी अभी तक हमें अनुकूल फल क्यों नहीं प्राप्त हुआ है? यद्यपि अनादिकाल से आत्मा के साथ लगे काम, क्रोध आदि विकारों, विकल्पों को जीतने के अनेक बार प्रयत्न किए गए फिर भी सफलता क्यों नहीं मिली? हमारी मोहमुग्ध आत्मा संसार सागर की उत्ताल तरंगों पर उठती और गिरती रही है। कभी उसका किनारा दिखा भी है लेकिन पुनः उसी में डूब गई। इस प्रकार अनेक बार निकलने के लिए किए जाने वाले प्रयास कार्यकारी क्यों नहीं हुए? क्या कारण है कि अभी तक यह आत्मा निकल भी नहीं पाई? यह एक विकट प्रश्न है। इस प्रश्न पर मनुष्येतर प्राणियों ने विचार किया या नहीं किया है? इस बात को गौण करके यदि हम मानव अपने आप को देखें तो ज्ञात होगा कि भौतिकता के वशीभूत होकर हमने अपनी बौद्धिक क्षमता का भरपूर उपयोग किया। प्रकृति पर विजय प्राप्त करने में उसके एक-एक गूढ़ रहस्य खोज निकालने में भौतिकवादी विकास द्वारा अनन्त आकाश में उड़ने के लिए वायुयान बनाये। समुद्र की अपार जलराशि में तैरने के लिए जलयान बनाये तथा अन्यान्य सुख साधनों के आविष्कार किये। इस निर्माणकारी प्रक्रिया के साथ ऐसे संहारक शस्त्रों का सृजन किया जो क्षणमात्र में इस रमणीय विश्व में विनाश का ताण्डव नृत्य दिखा सकते हैं लेकिन हमने यह जानने, समझने, परखने का प्रयास नहीं किया है कि मैं कौन हूं और क्या हूं? जीवन में उत्थान कैसे आता है और पतन क्योंकर होता है? काम, क्रोध माया, लोभ आदि विकार विकल्प मेरे हैं या मुझसे भिन्न हैं? इन विकारों का प्रकोप होने पर हम शांत, विनम्र, सरल क्यों नहीं बन सके?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कारण की खोज

इसका कारण है–परमुखापेक्षिता। जब-जब भी प्रयत्न किए तो पर पदार्थों को ही प्रमुखता दी और "मैं आत्मा" की उपेक्षा करते रहे। यदि इष्ट वस्तु का संयोग मिल गया तो खुशी से और अनिष्ट वस्तु का संयोग होने पर दुःख का पहाड़ समझ लिया। प्रिय वस्तु में राग और अप्रिय वस्तु में द्वेष करने लगे। स्वावलम्बन का सहारा नहीं लिया। हमारे सोचने का दृष्टिकोण भी यही रहा है कि "मैं शरीर हूं, मैं इन्द्रिय हूं, मैं मन हूं, मैं काला हूं, मैं गोरा हूं, मैं सुखी हूं, मैं दुखी हूं, मैं बन्धनबद्ध हूं और कभी बन्धन से विमुक्त नहीं हो सकता हूं।" परिणामतः तन एवं मन की अहंता एवं ममता के बन्धन अभी तक नहीं टूट पाये हैं।

लेकिन उक्त स्थिति ऐसी नहीं है कि जिसको बदला न जा सके। क्योंकि उत्क्रांति करना आत्मा का स्वभाव है। यदि हम जीवन की गहराई में उतर कर जीवमात्र के अन्तरतम का निरीक्षण करें तो ज्ञात होगा कि जिस मनोभूमि में पतन के कारणों का अस्तित्व है उसी मनोभूमि में उत्थान के सुन्दर बीज भी विद्यमान रहते हैं। इस बात को हम एक प्रत्यक्ष उदाहरण द्वारा इस प्रकार से स्पष्ट समझ सकते हैं कि पृथ्वी पर अनेक ऐसी विषैली वनस्पतियां उत्पन्न होती हैं जो मारक हैं जिनके खाने से मृत्यु का साथ सहज हो जाता है लेकिन ऐसे भी धान्य, फल आदि पैदा होते हैं जो जीवन के धारण-पोषण के आधार हैं। जिनका भोग किए बिना जीवन टिक नहीं सकता है। भूमि एक होने पर उसमें मारक और धारक दोनों ही प्रकार के पदार्थों को उत्पन्न करने की क्षमता विद्यमान है। यही बात जीव आत्मा के लिए भी समझना चाहिए। जब प्रसन्न मानस में जागृति की लहर उठती है तब स्वमेव अन्तरात्मा जगमगाने लगती है। उसे अपनी शक्ति पर विश्वास हो जाता है और वह अपने अन्तर में झांक कर कह उठती है कि "मैं सर्वशक्तिमान हूं। अजर-अमर-अनन्त शाश्वत हूं। मैं आत्मा हूं, अन्य कुछ भी नहीं हूं, मैं केवल चेतन हूं, जड़ नहीं हूं। न मेरा कभी जन्म होता है और न मरण। ये जन्म मरण के खेल मेरे नहीं हैं किन्तु तन के खेल हैं। जन्मने-मरनेवाली मैं नहीं, मेरा शरीर है" इसका परिणाम होता है कि अपने अनन्त गुणों और शक्ति का परिज्ञान न होने तक जो आत्मा सांसारिक दुखाग्नि में झुलस रही थी। आज से नहीं वरन् सुदीर्घ अतीत काल से अपने को दीन-हीन एवं अनाथ समझती आ रही थी वही दृष्टि बदलते ही किसी भी प्रकार के दुख-दैन्य, क्लेश का अनुभव नहीं करती है वह उससे अतीत होकर अनन्त आनन्द की अनुभूति में निमग्न रहती है।

लक्ष्य साधन के बीज

जब हम इस बिन्दु पर आकर केन्द्रित हो जाते हैं कि लक्ष्य प्राप्ति आत्मा द्वारा हो सकती है। तब प्रश्न उठता है कि लक्ष्य प्राप्ति के साधन क्या हैं? लक्ष्य को जानने के साथ-साथ उसकी प्राप्ति के साधन को भी जानना जरूरी है। लक्ष्य के अनुरूप साधन भी उच्च, गंभीर एवं गौरवशाली होना चाहिए। साधना वही मानी जाएगी जो साधकतम हो जिसकी विद्यमानता में लक्ष्य को अवश्य ही सिद्ध होना पड़े।

इस दृष्टि से साधन के बीज का नाम है–'सम्यग्दर्शन'। यही बीज वृद्धिगत होकर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, अहिंसा, संयम, तप, त्याग आदि अनेक नाम रूपों में अवतरित होकर हमें अपनी पूर्णश्री का बोध कराता है। किन्तु उनके नामों का आशय एक, उद्देश्य में अन्तर नहीं है। जो आशय सम्यग्दर्शन का है वही सम्यग्ज्ञान आदि का है। बोली, वेशभूषा आदि से जैसे हम मनुष्यों में भेद की कल्पना कर लेते हैं वैसे ही सम्यग्ज्ञान आदि के लिए भी समझना चाहिए। जब तक सम्यग्दर्शन स्थित है, प्राणवान है तब तक सम्यग्ज्ञान सम्यक् चारित्र आदि की, अहिंसा, संयम, तप की साधना निरन्तर विस्तृत होती चली जाएगी। लेकिन सम्यग्दर्शन नहीं है तो सम्यग्ज्ञान-चारित्र का सद्भाव नहीं हो सकता है। वह अहिंसा, अहिंसा नहीं रह सकती है। संयम, संयम नहीं होगा और तप, तप नहीं किन्तु ताप कहलाएगा। सम्यग्दर्शन रूप मूल का विच्छेद हो जाने पर सम्यग्ज्ञान आदि का विकास रुक जाएगा। इसलिए लक्ष्य प्राप्ति के लिए साधकतम साधन सम्यग्दर्शन को माना जाता है। लक्ष्य प्राप्ति के लिए सब कुछ करो। लेकिन पूर्व यह जान लो कि सम्यग्दर्शन की ज्योति जगमगाई या नहीं?

सम्यग्दर्शन : जीवन का समाधान

सम्यक् और दर्शन इन दो शब्दों के योग से सम्यग्दर्शन शब्द की निष्पत्ति हुई है। व्याकरण शास्त्र की दृष्टि से सम्यक् शब्द का अर्थ है अच्छा, श्रेष्ठ, सत्य और दर्शन का अर्थ है देखना। लेकिन दर्शन शब्द के अन्तर में अनेक महत्वपूर्ण आशय, अभिप्राय गर्भित हैं। श्रद्धा, रुचि, प्रतीति, निष्ठा, आस्था, विश्वास आदि। तब सम्यग्दर्शन का शाब्दिक अर्थ करेंगे "श्रेष्ठ सत्य–श्रद्धा, विश्वास आदि करना और होना सम्यग्दर्शन है" लेकिन यहां पर भी प्रश्न उठता है कि किस पर विश्वास करें? इसका समाधान करते हुए आचार्यों ने कहा–

"तत्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्"

तत्वार्थ—तत्वभूत पदार्थों का श्रद्धान करना, सम्यग्दर्शन है किन्तु इस लक्षण ने पुनः जिज्ञासा जागृत कर दी कि संसार में पदार्थ अनन्त है तो उनमें से फिर किस पर श्रद्धा की जाये, विश्वास किया जाये? और उन पदार्थों में तत्वश्रुत पदार्थ किसे माना जावे? यदि तत्वभूत का अर्थ रुचि अनुकूल पदार्थ किया जावे तब तो सभी कामी, भोगी आदि भी सम्यग्दृष्टि कहलाएंगे। उनके विश्वास को भी सत्य दर्शन कहना पड़ेगा। शाब्दिक अर्थ को पकड़ कर बैठने वाले अवश्य ही सम्यग्दर्शन का यही अर्थ करेंगे। लेकिन बुद्धिमान व्यक्तियों का कहना है कि भले ही अनन्त पर पदार्थ रहे किन्तु उनको जान लेना, उन पर रुचि रखना सम्यग्दर्शन नहीं है वे तत्वभूत पदार्थ नहीं हैं। तत्वभूत पदार्थ तो आत्मा है। पर पदार्थों पर तो अनादिकाल से विश्वास करते आए हैं और कर रहे हैं। शरीर, इन्द्रिय, कुटुम्ब परिवार, एवं समाज आदि पर विश्वास करते-करते तो अनेक जन्म गवां दिए किन्तु इन सब के मूल केन्द्र में स्थित तत्वभूत पदार्थ आत्मा पर विश्वास भी नहीं किया और उसकी प्रतीति भी नहीं कर पाए। परिणामतः जैसे के तैसे रह गए। इसलिए तत्वभूत पदार्थ आत्मा है और उसकी श्रद्धा प्रतीति आस्था करना ही सम्यग्दर्शन है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्मा के तत्वभूत पदार्थ मानने और उस पर श्रद्धा, विश्वास करने को सम्यग्दर्शन कहने का दूसरा कारण यह है कि जिसको अपनी आत्मा की सत्ता पर विश्वास होता है उसे ही परमात्मा की सत्ता पर भी विश्वास हो सकता है। इतना ही क्यों ? जो आत्मवादी हैं वही कर्मवादी भी हो सकता है और जो कर्मवादी है वही लोक-परलोक वादी भी हो सकता है। लेकिन जिसे स्वयं अपनी आत्मा पर विश्वास नहीं, आत्मा के अस्तित्व पर श्रद्धा नहीं है, आस्था, प्रतीति और रुचि नहीं है उसे कभी भी कर्म पर विश्वास हो नहीं सकता है। ससीम से असीम बनने आदि का अन्यतम लक्ष्य और स्थान मोक्ष का विश्वास नहीं हो सकता है। जहां अन्यतम लक्ष्य के अनुकूल आत्मा की अवस्था बनती है। इसीलिए आत्मा के अस्तित्व "मैं हूं" की पूर्ण प्रतीति को सम्यग्दर्शन कहा गया है।

उत्पत्ति : सम्यग्दर्शन की

सम्यग्दर्शन और उसके स्वरूप को समझ लेने के बाद यह जिज्ञासा होती है कि यद्यपि सम्यग्दर्शन का उत्पत्ति स्थान आत्मा है, वह कहीं बाहर से आनेवाला तत्व नहीं है, आत्मा का गुण होने से आत्मा की तरह उसका भी अनादि अनन्त कालिक अस्तित्व है। किन्तु उसकी उत्पत्ति, प्राप्ति कैसे होती है ? प्राप्ति का अर्थ है, आवृत्त आत्मा के निज स्वरूप को अनावृत्त कर देना, तो इसके लिए कहा जा सकता है–

तन्निसर्गादधिगमाद्वा–

सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति निसर्ग, स्वभाव ऊपर निर्मित अपरोपदेश से और अधिगम पर निर्मित पर संयोग परोपदेश से होती है। निसर्ग से उत्पन्न होने वाले सम्यग्दर्शन को निसर्गज और अधिगम से उत्पन्न होने वाले सम्यग्दर्शन को अधिगमज कहते हैं।

यद्यपि निसर्गज और अधिगमज सम्यग्दर्शनों में आत्मशुद्धि का स्तर समान है। शुद्धि के लिए किए जाने वाले प्रयत्न भी एक जैसे हैं और अंतरंग कारण भी एक ही हैं जिससे दोनों में अन्तर नहीं है लेकिन उत्पत्ति के समय बाह्य निमित्त निरपेक्षता और सापेक्षता के कारण समझने के लिए निसर्गज और अधिगमज भेद कर लिए गए हैं। निसर्गज सम्यग्दर्शन स्वयं के आंतरिक पुरुषार्थ एवं बल से प्राप्त होता है। इस सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के समय आत्मशुद्धि और शक्ति प्रबल होती है। पर निमित्त की अपेक्षा ही नहीं रहती है। अधिगमज सम्यग्दर्शन में आत्मशुद्धि और शक्ति के रहने पर भी दूसरे के सहकार की आवश्यकता होती है परन्तु सहकार की भी सीमा है। वही सब कुछ नहीं है। मूल तो आत्म जागृति है।

इस बात को एक लौकिक उदाहरण द्वारा इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है कि विविध प्रकार के जीवन धारक धान्यफल आदि भूमि से पैदा होते हैं। उर्वरा भूमि में तो बीज डालने के बाद स्वयमेव बीज वृद्धिगत होकर सुन्दर फल देते हैं। उनके लिए पानी-खाद आदि देने की आवश्यकता नहीं रहती है लेकिन कोई भूमि ऐसी भी होती है कि जो उपजाऊ तो है किन्तु समय-समय पर उसमें पानी खाद आदि डालने पर अन्नोत्पादन होता है। इस प्रकार धान्योत्पादन धरती से होता है। धान्य का उत्पत्ति स्थान भूमि है लेकिन एक धरती में प्रयत्न करने पर पुष्कल धान्य पैदा हो जाता है। जबकि दूसरी में प्रयास किया गया तथा सहकारी कारणों का सहयोग लिया गया है यही स्थिति निसर्गज और अधिगमज सम्यग्दर्शन के बारे में अच्छी तरह से समझी जा सकती है।

सम्यग्दर्शन के ज्ञापक लक्षण

हम पूर्व में यह तो जान ही गए हैं कि सम्यग्दर्शन आत्मा का गुण है और आत्मा के अमूर्त होने पर वह भी अमूर्त है। लेकिन उसकी प्राप्ति आत्मा को हो चुकी है या नहीं ? इसका बोध प्रशम, संवेग, निर्वेद, अनुकंपा और आस्ति भावादि पांच लक्षणों द्वारा होता है। ये पांचों अथवा इनमें से कोई एक लक्षण जिस आत्मा में हो तो समझ लेना चाहिए कि उसे सम्यग्दर्शन की उपलब्धि हो चुकी है।

अनादि काल से आत्मा के साथ संबंध कषाय भावों की साहजिक मंदता को प्रशम कहेंगे। कभी इनका उदय तीव्र होता है और कभी मंद। तीव्रोदय में आत्मा अपने स्वरूप से विमुख हो जाती है। और मंद होने पर उन्मुख। आत्मा के स्वभाव की ओर गति करने, उसमें स्थित रहने अथवा सांसारिक दुःख क्लेशों से छूटने की विमुखता की भावना को 'संवेग' कहते हैं। सांसारिक पदार्थों के साथ में लगे अनादिकालीन आसक्तिराग भाव को छोड़कर आत्मोन्मुखी हो जाना "निर्वेद" कहलाता है। संसार के प्राणियों में दृश्यमान दुःखों, वेदनाओं से द्रवित हो उठना और उन दुःखों के निराकरण के लिए प्रयत्न करना "अनुकम्पा" है। पर पदार्थों के अस्तित्व को स्वीकार करने के पूर्व अपने अस्तित्व की दृढ़ आस्था "मैं हूं" इस अडिग निश्चय को "आस्तिक्य" कहते हैं। प्रथम-संवेग-निर्वेद और अनुकंपा भाव का अनुमान दूसरे व्यक्तियों को भी हो सकता है। आस्तिक्य भाव स्वयं गम्य है। यदि जीवन में आस्तिक्य भाव है तो समग्र विश्व का कोई भी प्रलोभन या दुःख व्यक्ति को अपने स्थान से च्युत नहीं कर सकता है।

सम्यग्दर्शन और साधना का संबंध

सम्यग्दर्शन के लक्षण आदि का विहंगावलोकन करने के बाद अब यह एक विचारणीय प्रश्न शेष रह जाता है कि सम्यग्दर्शन और साधना का संबंध क्यों माना गया है ? यद्यपि इस प्रश्न के उत्तर का यत्र तत्र पूर्व में संकेत किया गया है। यहां पर कुछ विशेषता के साथ इतना और जान लें कि साधना का लक्षण अणु से महान, साकार से निराकार, एवं बंधन से मुक्ति का होता है। वही कार्य सम्यग्दर्शन के द्वारा भी सम्पन्न होता है। सम्यग्दर्शन एक ऐसी कला है जिसकी प्राप्ति हो जाने पर जीवन में दुःख रहता ही नहीं है। दुःख सुख में परिवर्तित हो जाता है आत्म-भूमि में यदि कभी दुःख का बीज गिर भी जाए तब भी वह अंकुरित नहीं होता है। उद्वेगकारी एवं अनर्थकारी नहीं होता है। इसकी प्राप्ति होने पर ही आत्मा को बंधन से मुक्ति मिलती है, सिद्धि मिलती है। अनंत अतीत में जितनी भी आत्माएं सिद्ध हुई हैं, उन सबका मूलाधार सम्यग्दर्शन है। अनंत अनागत में भी जितनी आत्माएं सिद्धि लाभ करेंगी उनके लिए भी यही एक मात्र आधार होगा। जिस किसी भी आत्मा ने सम्यग्दर्शन रूपी रामबाण औषधि प्राप्त कर ली

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसे दुख तो प्रभावित करते ही नहीं हैं। किन्तु तीन लोक के समग्र वैभव एवं ऐन्द्रियक सुख-साधन भी प्रलोभित नहीं कर पाते हैं।

सम्यग्दर्शन एक ज्योति है जिसे अन्दर और बाहर दोनों ही पक्ष आलोकित होते हैं। जितना प्रकाश अन्तर को ज्योतित करता है उतना ही बाहर को भी। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के बाद दूसरा कुछ भी प्राप्त करना शेष नहीं रह जाता है। सभी प्राप्तव्य स्वतः स्वयमेव प्राप्त हो जाते हैं। लौकिक विभूतियों की बात तो दूर रही परन्तु मुक्ति को भी प्राप्त होना पड़ता है। दुनिया में ऐसी कोई शक्ति नहीं जो मुक्ति की प्राप्ति में बाधा डाल सके। इस प्रकार सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के साथ अनन्त मंगल का द्वार खुल जाता है।

साधना का आव्हान

साधना भी सम्यग्दर्शन के आदर्श को अपनी वाणी से आव्हान करती है, उन्हें उद्बोधन देती है कि जब तक जीवन में लक्ष्य प्राप्ति के बाधक कारणों का अभाव नहीं होगा मोह निद्रा का नहीं छोड़ेंगे तब तक विमुक्ति किस भांति मिल सकती है? इसलिए विश्व के अनंत पदार्थों का चिन्तन करने के साथ प्राप्ति के साधन जुटाने में शक्ति श्रम का उपयोग करने की बजाय तत्वभूत पदार्थ को जानो। जागृत हो जाओ। सतर्क होओ। सावधान बनो। प्रमाद का परित्याग करके अप्रमादी बनो। उठो जागो। आगे बढ़ो, आत्मदर्शन करो। जीवन में सुख दुख तो आते रहेंगे लेकिन एक क्षण के लिए भी आत्म सद्भाव को मत छोड़ो। विस्मृत मत होने दो कि क्षणमात्र का प्रमाद भी भयंकर विपत्ति उत्पन्न कर सकता है। किए-कराए पर पानी फेर सकता है। अतीतकाल में किए गए अनंत जन्म मरणों को भूल कर एक ही बात याद रखो कि वर्तमान को शुद्ध बनाना है। वर्तमान को इतना शुद्ध बना लो कि भविष्य में फिर कभी जन्म मरण के परिचक्र में न फंस सको। वर्तमान तुम्हारा अपना है, उसके तुम स्वामी हो, अतः इसको इतना संभाल लो कि भविष्य स्वयं संभल जाए"।

इन सुस्पष्ट संकेतों से एक बात प्रमाणित हो जाती है कि जो बात सम्यग्दर्शन ने कही है उसी बात को साधना ने भी दुहराया है। दोनों का उद्देश्य एक ही है कि प्राणीमात्र स्वरूप बोध करके अपने स्वरूप में स्थित होकर समग्र विभाव-भावों विकारों एवं विकल्प जालों से मुक्त होकर अंधकार से प्रकाश में आए। अन्दर बाहर सर्वत्र विराट चैतन्य के दर्शन करे। विमुक्ति भाव को प्राप्त करके समत्वयोग का सुयोग प्राप्त करे। लेकिन स्वरों में अन्तर है। दोनों की अपनी-अपनी बोली है। सम्यग्दर्शन, मार्ग दर्शक है, साधन है, और साधना है, उद्देश्य को क्रियान्वित करने वाली एक शक्ति। इसीलिए जब साधन की मुख्यता की ओर हमारी दृष्टि रहती है तब सम्यग्दर्शन साधना का आधार माना जाता है। किन्तु सम्यग्दर्शन भी तो साधना के बिना प्राप्त नहीं होता है। अतः उस दृष्टि से साधना को भी सम्यग्दर्शन का आधार कह सकते हैं। इस प्रकार साधना और सम्यग्दर्शन समानार्थक है। जिसके जीवन में इन दोनों का या दोनों में से किसी एक का भी सुमेल हो जाता है तो वह अनन्त अनन्त काल तक इस विराट विश्व का सम्यग्दर्शन करके समत्व योग की साधना में तल्लीन रहता है। ○

(जैन समाज द्वारा धार्मिक शिक्षण व्यवस्था: पृष्ठ १४७ का शेष)

२. पूरे जैन समाज की शिक्षा संस्थाओं के शिक्षार्थियों की परीक्षा के हेतु एक परीक्षा बोर्ड हो तथा उसके द्वारा उत्तीर्ण छात्रों को समाज द्वारा संचालित धार्मिक शिक्षा संस्थाओं के शिक्षण में Service दी जावे।

३. पूरे समाज द्वारा संचालित शिक्षा संस्थाओं का एकीकरण करके एक Governing Council बनाई जावे। जो अखिल भारतीय तथा प्रादेशिक स्तर की हो।

४. इसी प्रकार प्रत्येक स्थान की संस्थाओं के लिये प्रबन्ध समिति बना दी जावे।

इसमें सन्देह नहीं कि कार्य की विशालता को दृष्टिगत रखते हुए इसमें सम्पन्न होने में ४–५ वर्ष लग सकते हैं किन्तु निर्वाण महोत्सव वर्ष की एक उदाहरणीय फलश्रुति होगी। निवार्ण महोत्सव वर्ष में साम्प्रदायिक, अभिनिवेश कम करके अखिल जैन समाज रूपी वटवृक्ष का बीजारोपण करने का प्रयत्न किया गया था उसकी दिशा में शिक्षा जैसे पवित्र कार्य में पहल करके उसको पल्लवित तथा पुष्पित करने का यह प्रयत्न होगा। समाज के शिक्षा-विद्, चिंतक, प्रबुद्ध वर्ग, तथा नेतागण का ध्यान इस ओर आकर्षित हो तो यह कार्य मुश्किल नहीं है, आवश्यकता दृढ़ निश्चय की तथा साम्प्रदायिकत्ता-विहीन दृष्टि की।

आशा है इस पर गहराई से विचार किया जावेगा। किसी उपर्युक्त समय पर भारत जैन महामण्डल स्वयं अपने पूर्व निश्चय को क्रियान्वयन के लिये व्रत संकल्प होगा। □

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org